ISSN:2583-8849

लोक और प्रकृति दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं- आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा' समकालीन साहित्य में एक जाना-पहचाना नाम हैं। आप राजस्थान के मारवाड़ से आती हैं और राजस्थान ही नहीं बल्कि देशभर में अपनी रचनाओं के माध्यम से एक छाप छोड़ती हैं, जानी जाती हैं। बाल-साहित्य, दोहा, ग़ज़ल, गीत, मुक्तछंद कविता तथा आलोचना-समीक्षा में न केवल लिखती हैं बल्कि सम्मानित भी होती हैं। प्रस्तुत है, एक सशक्त और खरे लेकिन बहुत सहज तथा वात्सल्यमयी व्यक्तित्व की धनी आशा जी से हिंदी ग़ज़ल के चर्चित युवा कवि, संपादक एवं समीक्षक के० पी० अनमोल का संवाद।

के०पी० अनमोल- जन्म, बचपन और शिक्षा कहाँ और किन परिस्थितियों में रही, जानना चाहेंगे।
आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- मेरा जन्म पिताश्री शिवचंद ओझा, माता श्रीमती राम प्यारी ओझा के यहाँ ओसियाँ, ज़िला - जोधपुर में हुआ। लगभग ढाई साल की उम्र में मैं अपनी मौसी के साथ जो कि मेरी चाची भी थीं, दादी के पास छत्तीसगढ़ चली गई थी। मेरी प्रारंभिक शिक्षा छत्तीसगढ़ में हुई। लगभग चौथी क्लास पढ़ने के बाद में वापस ओसियाँ लौट आई फिर मेरी पूरी स्कूली शिक्षा ओसियां में हुई और कॉलेज स्तर की पढ़ाई एम०ए०, एल०एल०बी० जोधपुर से हुई। पढ़ाई में मैं बचपन से ही ठीक थी। पढ़ने में रूचि निरंतर बनी रही।
के०पी० अनमोल- पढ़ने का शौक़ किस उम्र से पैदा हुआ? इसके पीछे क्या कारण रहे?
आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- पढ़ने का शौक़ मुझे लगभग पाँचवी क्लास से शुरू हुआ। जब मैं छत्तीसगढ़ से वापस ओसियां लौटी तब मैंने पाया कि पापा के पास एक छोटा-सा पुस्तकालय हमारे घर के ऊपर वाले कमरे में हुआ करता था, जिसमें रामायण, महाभारत, कई तरह के पुराणों के साथ-साथ ग़ालिब, मज़बूर, प्रेमचंद, हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तकें, विनोबा भावे जी, विवेकानंद जी,स्वामी दयानंद सरस्वती जी पर भी पुस्तकें थीं। तकरीबन दो सौ-ढाई सौ पुस्तकों की लाइब्रेरी थी पापा की। उसके अतिरिक्त घर में कई पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं। उनमें से सोयवित रूस, इण्डिया टुडे नियमित आती थीं।

जब पापा ने देखा कि मैं यह सब बड़ी-बड़ी पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ती हूँ तो उन्होंने मेरे पढ़ने के लिए लोटपोट, चंपक, पराग, नंदन जैसी पत्रिकाएँ भी मंगवानी शुरू की। मुझे देखकर धीरे-धीरे मेरी अन्य भाई- बहनों ने भी पढ़ना शुरू किया। मैंने देखा कि पापा दिन भर पढ़ते थे कोई न कोई पुस्तक। फिर दुकान जाते वक्त अपने साथ ले जाते। हमारा मेडिकल का बिजनेस था। पापा दोपहर में हॉस्पिटल टाइम के बाद जब थोड़ा फ्री होते तब भी पढ़ते। मेरा भी अधिक समय पापा के साथ व्यतीत होता था। इसी कारण शायद मेरी भी पढ़ने की आदत बचपन से ही पड़ गई।
के०पी० अनमोल- आशा जी, आपका पिताजी के साथ विशेष स्नेह रहा है। इसके पीछे क्या कुछ कारण रहे? किस तरह याद करती हैं उन्हें?
आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- हाँ, यह सच है कि पापा शुरू से मेरे आदर्श रहे हैं। उनका व्यक्तित्व मुझे प्रभावित करता था। वे बहुत जुझारू थे। पूरा गाँव उनका बहुत आदर करता था। वे बहुत ज्ञानी थे। अंग्रेज़ी, हिंदी, राजस्थानी के साथ-साथ असमी, बंगाली, छत्तीसगढ़ी भी जानते थे। वे काफी गंभीर लेकिन बहुत सहज-सरल थे। उन्होंने मात्र 25 वर्ष की अवस्था में अपने पिता को खो दिया, उसके बाद अपने माता, भाई-बहनों की ज़िम्मेदारी बिना किसी झिझक के उठाई। हम सात बहनों को बहुत स्नेह दिया। उन्होंने पूरी कोशिश की कि हम आत्मनिर्भर बनें। हम सबको पढाने-लिखाने की भी भरपूर कोशिश की।

उनकी जीवन-शैली बहुत संयमित थी। समय से सोना, समय से जगना, संयमित भोजन करना। रहने का तौर-तरीक़ा भी बहुत ही व्यवस्थित और साफ़-सुथरा था। उनके व्यक्तित्व में वह हर गुण था, जिससे कि प्रभावित हुआ जा सकता था। स्कूल से इतर मेरा अधिकतर समय पापा के साथ पापा की दुकान पर बीतता था, यही कारण था कि मैं अन्य बहनों से उनको कहीं और अधिक गहराई से जान पायी, समझ पायी। पापा ग़रीब लोगों को दवाई बिना पैसे दे देते थे। गाँव में शायद इकलौती बाइक हुआ करती थी उनके पास, राजदूत। दुकान चूँकि स्टेशन पर थी और घर गाँव में था तो दुकान से लौटते वक़्त अक्सर किसी बुजुर्ग को अपने साथ बाइक पर बैठाकर गाँव में लेकर आते। गाँव में किसी बच्चे को एजुकेशन के लिए आगे जोधपुर, जयपुर कहीं ले जाना होता तो उसके साथ जाते। गाँव के किसी व्यक्ति को स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के चलते जोधपुर, जयपुर, दिल्ली हॉस्पिटल जाना होता तो उनके साथ जाते। सबके सहयोग की उनकी जैसी प्रवृत्ति विरले ही लोगों में पायी जाती है।

उनकी सबसे बड़ी ख़ूबी यह थी कि वे बहुत संवेदनशील थे। वे 1963 में 18 वर्ष की उम्र में बी०एससी फार्मेसी कर चुके थे। 20 वर्ष की उम्र में ख़ुद का बिजनेस शुरू कर चुके थे। पढ़े-लिखे और व्यस्त होने के बावजूद वे घर-परिवार पर भी पूरा ध्यान देते थे। उन्हें घर को बहुत सिस्टमैटिक रखना पसंद था। उनके बच्चे एकदम साफ-सुथरे और वेल मैनर्ड रहें उसके लिए भी वे हफ़्ते में एक बार बैठाकर क्लास ज़रूर लेते थे।

देखिए पिता के नाम से मैं किस कदर भाव में बह गई हूँ कि बस उन्हीं पर बात किए जा रही हूँ। कुल मिलाकर मेरे पिता का व्यक्तित्व ऐसा व्यक्तित्व था, जो सही मायने में पौरुषत्व था। संभावनाओं और संवेदनाओं से पौरुषत्व। मेरे भीतर आज जो भी है, 70% उनकी देन है।

के०पी० अनमोल- इस प्रसंग से एक बेह्तरीन व्यक्तित्व को जानना हुआ। आपको भी और ठीक से समझने में मदद मिली। आपके लेखन की शुरुआत कैसे और किन परिस्थियों में हुई? लेखन के आरंभिक दौर का परिवेश कैसा रहा? किन रचनाकारों ने उस समय प्रभावित किया?

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- पढ़ते-पढ़ते जाने कब तुकबंदी करने लगी थी, मुझे ख़ुद पता नहीं चला। मैं बात-बात में तुकबंदी करके जवाब देने लग गई थी। पहली व्यवस्थित कविता मैंने शायद आठवीं क्लास में लिखी। हुआ यूँ कि हमारे गाँव की एक लड़की की दहेज की माँग के चलते हत्या कर दी गई तब मैं आठवीं क्लास में पढ़ती थी। माहेश्वरी समाज ने मुझे बोलने के लिए मंच पर बुलाया था, जिसमें हज़ारों की संख्या थी। प्रवाह-प्रवाह में मैंने कब, कैसे कवितानुमा बातें कह दीं ख़ुद मुझे भी नहीं पता, जिसकी चर्चा लंबे समय तक पूरे गाँव में चली। नवीं कक्षा में वह कविता एक मैगजीन में छपी थी, 'दहेज का दैत्य' नाम से-

हमने खींच ली दहेज किस दैत्य पर तलवार,
अब ना सहेंगे अपने ऊपर इसका अत्याचार।

कुछ इस तरह की कविता थी वह। मैगजीन अभी भी मैं संभाल कर रखी हुई है। फिर कॉलेज के दिनों में जलते दीप, नवज्योति, सूर्यनगरी, प्रभात ख़बर, श्रृंग सूत्र जय श्रृंग जैसी जोधपुर, विजयनगर, जयपुर से निकलने वाली कई पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रचनाएँ छपने लगी लेकिन बात यह थी कि यह बात घरवालों को पता भी नहीं थी कि मेरी रचनाएँ छप रही हैं। बिना सरनेम लिखे केवल आशा नाम से भेज देती थी। राजस्थान पत्रिका की पाठक-पीठ में भी कई बार मेरी टिप्पणियाँ आई थीं। डायरी लिखने लगी थी इसीलिए पाठक से कब लेखक की यात्रा तय कर ली, पता नहीं चला। न ही उसके लिए कोई विशेष प्रयास करने पड़े। बस बचपन में बहुत पढ़ा, स्कूल में भी बहुत बड़ी लाइब्रेरी होती थी श्री वर्धमान जैन उच्च माध्यमिक विद्यालय, ओसियां में, मैं लंच टाइम में 5 मिनट में खाना खाकर वहाँ होती थी। ख़ाली पीरियड में मैं वहाँ होती थी। कभी स्कूल जल्दी पहुँच जाती तो वहाँ होती थी। मेरी स्कूल के लाइब्रेरियन खेतसिंह जी हर नई किताब आते ही मुझे जारी भी कर देते थे।

कबीर दास, मीरा बाई, तुलसीदास, सूरदास, मल्लिक मुहम्मद जायसी से लेकर प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला, पंत, दिनकर, मोहन राकेश, महादेवी वर्मा, चंद्रबरदाई, अमीर खुसरो, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी के साथ-साथ उन दिनों आने वाली तमाम बाल पुस्तकें, गद्य और पद्य समांतर पढ़ती रही। इस शौक ने नवीं कक्षा में हिंदी साहित्य लेने की ललक जगा दी। ग्रेजुएशन तक हिंदी रखा, उसके बाद एल०एलबी की लेकिन मन तो हिंदी साहित्य में ही रमता रहा। हाई कोर्ट में प्रैक्टिस करते हुए भी मैंने हिंदी साहित्य में स्वयंपाठी विद्यार्थी के तौर पर एम०ए० किया। उन दो सालों में भी कॉलेज की लाइब्रेरी में श्री नरपत सिंह लाइब्रेरियन हुआ करते थे, मेरे पढ़ने की लगन देखकर मेरे नाम, ख़ुद के नाम, कई और अपने सहयोगी कर्मचारी के नाम मुझे पुस्तक जारी कर देते थे। 15 पुस्तक लाती, 15 दिन में पढ़कर लौटा देती।

के०पी० अनमोल- एक साहित्यकार के लिए हमारे यहाँ की वे कौनसी स्थितियाँ-परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें बदलते हुए देखना चाहेंगी?

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- एक महिला साहित्यकार को हमेशा से ही दोयम समझा जाता है। लोग तारीफ करेंगे उसकी तो कहेंगे सीधी है या कहेंगे ख़ूबसूरत है या कहेंगे तेज़ है। यह कोई नहीं कहेगा कि वह लेखिका कैसी है। लोगों के मूल्यांकन करने का तरीका ठीक नहीं है। पुरुष और स्त्री के बीच में विभेद करते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। आलोचना, समालोचना के क्षेत्र में भी देखती हूँ कि स्त्री के लेखन पर विमर्श बहुत कम होता है। उनके लेखन पर शोध बहुत कम होता है। मंचों पर उसको बिठाया जाता है तब भी तादाद कम रहती है जबकि लेखन के क्षेत्र में स्त्रियाँ आजकल पुरुषों के बराबर हो चुकी हैं। किसी भी क्षेत्र में हों, अपने हंड्रेड परसेंट एफर्ट्स के बाद भी स्त्री को दोयम समझा जाना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त घर-परिवार में भी स्त्री के लेखन के महत्व को समझना चाहिए और उसे समुचित समय देना चाहिए क्योंकि अभी तक अधिकांश लेखिकाएँ घर, परिवार, समाज, रिश्तेदारी के जाल में उलझी हुईं अगर थोड़ा-बहुत समय निकाल पाती हैं तो अपनी नींद और आराम के समय से ही वह समय निकालती है, जबकि घर-परिवार और समाज सबको चाहिए कि वह उसके लेखन की कद्र करते हुए उसे अपना एक निश्चित समय लिखने -पढ़ने के लिए दे। उसे अपनी दिशा में आगे बढ़ने दे।

के०पी० अनमोल- आपका एक साथ साहित्य की अनेक विधाओं में साधिकार दख़ल है। कैसे मैनेज करती हैं अपना लेखन?

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- लेखन को मैनेज करने के लिए ऐसा कुछ विशेष प्रयास कभी मुझे करना नहीं पड़ा। जिस समय, जो विद्या दिमाग में आई, जिस विधा के भाव दिमाग़ में आए बस उन्हें टाँक लिया। विविधताएँ मुझे पसंद हैं, एकरसता निराश करती है, बोझिल लगती है। अगर आपके पास लिखने-पढ़ने का पर्याप्त समय है, उस समय आप कहानी, समीक्षा, आलोचना कर लीजिए। समय कम है तो आप ग़ज़ल, गीत, दोहे, सोरठे, चौपाई, घनाक्षरी कह लीजिए। विधा कोई भी हो, अगर एक बार आपके मन को भा जाती है, आपको समझ आ जाती है, उस पर आपकी पकड़ बन जाती है तो उसमें कहना, उसमे लिखना, पढ़ना बहुत ही आनंददायक और सहजतापूर्ण लगने लगता है। वैसे भी बचपन से ही मैंने गद्य और पद्य बराबर पढ़ा इसलिए मेरी रुचि दोनों में बराबर रूप से बनी हुई है।

के०पी० अनमोल- इन सब विधाओं में कौनसी एक विधा को मन के अधिक क़रीब पाती हैं?

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- मैं गीत, दोहे और बालगीतों में ख़ुद को बहुत कंफर्ट महसूस करती हूँ। इसका कारण है

कि बंधकर नहीं बैठना पड़ता है। कम समय होते हुए भी आप अपने विचारों को भली-भांति प्रकट कर पाते हैं। मन मस्तिष्क में जो ही ख़याल तैरने लगता है तुरंत प्रभाव से दोहा बन जाता है। एक बार एक मुखड़ा बन जाए तो गीत के अंतरे बनना बहुत सहज हो जाता है लेकिन कहानी, उपन्यास में ऐसा नहीं है। एक बार हम लिखते हुए उठ जाते हैं तो दुबारा वापस बैठते वक़्त तक थीम ही बदलने लगती है, विचारों में भटकाव आने लगता है। उसमें कसाव लाने के लिए बहुत अधिक समय देना पड़ता है इसीलिए गीत, ग़ज़ल, दोहे, लघुकथाएँ, बाल साहित्य में समय के प्रबंधन के हिसाब से सहूलियत महसूस होती है और जिसमें सहूलियत महसूस होती है, आदमी की प्रिय विधाएँ भी वही बन जाती हैं तो यूँ समझ लीजिए की पद्य विधाओं में ख़ुद को ज़्यादा सहज पाती हूँ।

के०पी० अनमोल- आपकी रचनाओं में लोकरंग तथा प्रकृति पूरी जीवंतता के साथ मिलते हैं। इसके पीछे कोई ख़ास कारण?

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- उफ़्फ़! इस प्रश्न से तो एक गहरी नींद में सोया दर्द छिड़ गया। मेरा बचपन माता-पिता से दूर छत्तीसगढ़ में बीता। शायद माता-पिता से दूर रह रही एक छोटी बच्ची को उनके प्यार-दुलार से वंचित होकर जो एकाकी समय बिताना पड़ा, उस एकाकीपन की रिकत्ता, पीर को भरते-भरते उसकी जगह प्रकृति ने ले ली होगी। माता-पिता से दूर दादी और चाची के पास जो प्रेम मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला। अपने पापा को याद करते हुए मैं अधिकतर एकांत में बैठ जाया करती थी।

मुझे याद है, मैं उनको याद करते-करते कई बार रोते-रोते जहाँ बैठी होती, वही सो जाती थी। जाने कितनी देर बाद उठती तब भी मैं वहीं होती थी। ख़ुद को अकेला ही पाती थी। मैं अपने पिता और परिवार की याद में कभी बादलों को निहारती, कभी पेड़ों को, कभी पशु-पक्षियों को, कभी दादी के घर से अटे खेतों को, कभी उन खेतों के पास से बहते है नदी-नालों को, मैं अपना समय इसी तरह व्यतीत करती थी। कई बार खाट पर लेटे-लेटे बादलों में अपने माता-पिता की छवि को साकार किया करती थी। शायद वही पल रहे होंगे, जब मुझे प्रकृति बहुत अपनी-सी, सगी-सी लगने लगी होगी। उन्हीं क्षणों में मुझे उससे अनुराग हुआ होगा और वह मेरे भीतर उतरती गई होगी।

रही बात लोक-रंग की तो मेरा बचपन गाँव में लोक के बीच बीता। चाहे वह छत्तीसगढ़ हो, चाहे राजस्थान। मैंने लोक को बहुत क़रीब से जिया। मैं अधिकतर बुजुर्गों के बीच में बैठती, उनकी बातें, उनकी लोकोक्तियाँ उनके मुहावरे, उनके गीत उनसे सुन-सुन कर अपने भीतर उतारती रहती थी। उस प्रक्रिया में लोक मेरे भीतर रमने लगा। फिर इस लोक के महत्व को बहुत गहराई से जाना, पहचाना, समझा और मुझे लगा कि यह लोक ही तो मेरा जीवन है, जहाँ प्रकृति जैसी ही सादगी है, सरलता है, आत्मीयता है और बहुत गहरी जड़ें हैं। अपनी जड़ें प्रकृति को भी प्रिय हैं और लोक प्रेमी को भी और मुझे प्रिय लगने लगा यह लोक। ज्यों-ज्यों समझ आती गई त्यों-त्यों लोक मेरा होता गया और आज आपके इस प्रश्न से समझ में आया कि लोक और प्रकृति दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं, लोक है तभी प्रकृति है, प्रकृति है तभी लोक है।

के०पी० अनमोल- आशा जी, आपसे संवाद के ज़रिए बहुत कुछ सीखना संभव हुआ। आपने अपना क़ीमती समय दिया, धन्यवाद।

आशा पाण्डेय ओझा 'आशा'- आपका भी बहुत धन्यवाद। शुभकामनाएँ।



के पी अनमोल का जन्म 19 सितम्बर को सांचोर-राजस्थान में जन्म। हिंदी साहित्य में एम.ए। ग़ज़ल संग्रह इक उम्र मुकम्मलप्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाओं का प्रकाशन। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से रचनाओं का प्रसारण। काव्य रत्न सम्मानसे पुरस्कृत।